नहुष

श्रीः

नहुष

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

नवमावृत्ति
२०११

मूल्य

मुद्रक—श्रीरामकिशोर गुप्त,
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित।

निवेदन

तीन वर्ष से ऊपर हुए, मेरे बाल्य बन्धु मुन्शी अजमेरी, जिन्हें मुन्शीजी के बदले कभी कभी हम लोग 'मनीषीजी' भी कहा करते थे, एक दिन अकस्मात् हम लोगों को सदा के लिए छोड़कर चल दिये। ऐसा जान पड़ा, जैसे जीवन का रस ही सूख गया। मन विक्षिप्त-सा रहने लगा। उसे किसी प्रकार स्थिर करने और कुछ सान्त्वना पाने की आशा से मैंने 'श्रीमद्-बाल्मीकि रामायण' और 'महाभारत' का एक एक पारायण करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक स्थलों ने कुछ लिखने को प्रेरित किया; परन्तु किसी कार्य का भार उठाने के लिए शरीर प्रस्तुत न था। तथापि उद्योग पर्व में

वर्णित नहुष के उपाख्यान ने कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया। यूरोप के महाकवि मिल्टन के 'पैराडाइज लॉस्ट' का नाम सुना था। कहते हैं, उसमें स्वर्ग से पतन होने की ही बात कही गई है। उस स्वर्गभ्रष्ट रचना में जो सन्देश दिया गया है, उसे जानने का सौभाग्य तो नहीं हुआ, परन्तु व्यासदेव के द्वारा वर्णित इस आख्यान में स्पष्ट दिखाई दिया कि मनुष्य वार वार ऊँचे उठने का प्रयत्न करता है और मानवीय दुर्बलताएँ वार वार उसे नीचे ले आती हैं। मनुष्य को उन पर विजय पानी ही होगी। इसके लिए उसे साहस पूर्वक फिर फिर उठ खड़ा होना होगा। तब तक, जब तक वह पूर्णता प्राप्त न कर ले।

रामायण में भी यह आख्यान मिला। प्रसिद्ध बौद्धकवि अश्वघोष ने भी अपने 'बुद्धचरित' में इसकी चर्चा की है—

भुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानाम्
शतक्रतौ वृत्रभयात्प्रनष्टे
दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा
कामेष्वतृप्तौ नहुषः पपात। (११—१४)

वस्तुतः नहुष का नाम वैदिक काल से सुना जाता है और मनु के समय से उसका दृष्टान्त दिया जाता है। इतनी पुरानी होने

पर भी इस कथा ने मुझे एक नये ही रूप में आकर्षित किया और मैंने 'इन्द्राणी' नाम देकर एक छोटा-सा काव्य आरम्भ कर दिया। कुछ ही पंक्तियाँ लिखी जाने पर ऐसा क्रम टूटा कि इतने दिनों में अब कहीं इसका ठिकाना लगा। इस बीच इसका नाम भी बदल गया। परन्तु अपनी नहीं तो अपनों की प्रेरणा से अन्त में यह पूरा हो ही गया।

मेरे लिए यही बहुत है जो इस कृति में भी, आनुषङ्गिक रूप में ही क्यों न हो, मुझे अपने स्वर्गीय बन्धु के सहयोग और साहचर्य का भान होता रहा।

चिरगाँव
राखी, १९९७

मैथिलीशरण

मेरे मनीषी

स्वर्ग में तुम्हें इस धरती का भी कभी ध्यान आता है? स्मरण है, एक बार अपने वृद्ध बापूजी से, उनकी आँखें बनवाने के विषय में, तुमने क्या कहा था और उन्होंने तुम्हें क्या उत्तर दिया था? मैंने उसे पद्यबद्ध कर लिया है सुनो—

"कौन देख ये आँखें तुमको कह सकता है अन्ध,
योग्य चिकित्सा का बापूजी, हम कुछ करें प्रबन्ध?"
"पर बेटा, क्या देखूँगा मैं पाकर भी फिर दृष्टि!
दर्शनीय वे पुरुष कहाँ अब, बदल गई सब सृष्टि।"

सचमुच भाई, सृष्टि बदल गई है। आँखें जिन्हें खोजती हैं वे कहाँ हैं? और क्या कहूँ—

दुःख रोने से क्या हे तात,
जानता है प्रभु जी की बात।

तुम्हारा—
अब तुम जो कहो

पूर्वाभास

तपस्वी त्रिसरा इन्द्रासन लेना चाहता था। इन्द्र ने अप्सराओं के द्वारा उसे तप से डिगाना चाहा, परन्तु वह नहीं डिगा। तब इन्द्र ने वज्र से उसकी हत्या कर डाली। त्रिसरा के भाई वृत्र ने इन्द्र से वैर लिया। वृत्र से हार कर इन्द्र को उससे सन्धि करनी पड़ी। वैरी बन्धु बन गये। परन्तु कपट मैत्री से खुली शत्रुता ही भली। एक दिन धोखे से इन्द्र ने वृत्र को भी समाप्त कर दिया। ब्रह्महत्या और विश्वासघात के कारण इन्द्र पाप का भागी हुआ। इन्द्रासन छोड़कर प्रायश्चित्त करने के लिए, उसे एकान्त जल में समाधि लगानी पड़ी।

इसी प्रसंग में, स्वर्ग की रक्षा के लिए, महाराज नहुष को योग्य समझकर देवताओं ने उन्हें इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित किया था।

नर अधिकारी आज देवराज-पद का,
किंवा वह लक्ष्य हुआ हाय ! सुर-मद का ?

नहुष

आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।

श्रीगणेशायनमः

नहुष

मङ्गलाचरण

क्योंकर हो मेरे मन-मानिक की रक्षा ओह !
मार्ग के लुटेरे—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ।
किन्तु मैं बढ़ूँगा राम ,—
लेकर तुम्हारा नाम ;
रक्खो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा, थोड़ा छोह ।

शची

मणिमय बालुका के तट - पट - खोल के,
क्या क्या कल वाक्य नैश निर्जन में बोल के,
श्रान्त सुर-सरिता समीर को है भेटती,
क्लान्ति दिन भर की है उसकी भी मेटती।

यह रहा मानस तो अमरों के ओक में,
गात्र मात्र ही है मोतियों का नरलोक में!
पानी चढ़ने से यही चन्द्र-कर चमके,
पाकर इसीको रवि-रश्मि-शर दमके।

होती है सदैव नई वृद्धि परमायु में,
अमर न होगा कौन इस जल-वायु में?
गन्ध पृथिवी का गुण, व्योम भर जो बढ़ा,
आके यहीं उन्नति की चूड़ा पर है चढ़ा!

मिलता दरश से ही सुख है परस का,
पार क्या परस के बरसते-से रस का।
डोलता-सा, बोलता-सा एक एक पर्ण है,
वर्ण-पीतता में भी सुवर्ण ही सुवर्ण है।

धूल उड़ती है तब फूलों के पराग की,
पत्र - रचना - सी पड़ती है अनुराग की!
अङ्क धन का क्या यहाँ, जीवन अशङ्क है,
कितनी सजलता है, किन्तु कहाँ पङ्क है?

फैली सब ओर शान्ति, मग्न सुरलोक है,
किन्तु कान्ति-हीना आज इन्द्राणी सशोक है।
भ्रान्त-सी सखी के साथ तीर पर आ गई,
शान्त वायुमण्डल में मानो क्रान्ति छा गई।

आज सुरराज शक्र स्वर्गभ्रष्ट हो गया,
और स्वर्ग-वैभव शची का सब खो गया।
जी रही है देवराज्ञी, कैसे मरे अमरी,
मँड़रा रही है शून्य वृन्त पर भ्रमरी!

दगता है अन्तर, सुलगता ज्यों तुष है;
इन्द्रासनासीन हुआ सहसा नहुष है।
सह्य किसे स्वाधिकार दूसरे के बस में,
देना पड़ा हो वह भले ही रस रस में।

"देवि, यथा" बोली सखी—"दनुज दनुज ही,
देव देव ही हैं तथा मनुज मनुज ही।
सीमा जहाँ जिसकी, रहेगी वहीं वह तो,
सहलो विनोद-सा विपर्यय है यह तो।"

"हाय रे विपर्यय !" सखी की बात सुनके
बोली अमरेश्वरी अधीरा सिर धुनके—
"सखि, क्या विपर्यय है, जो जहाँ था है वहीं,
सब तो वही के वही, मैं ही वह हूँ नहीं।

क्या थी, अब कौन हूँ, कहाँ थी, अब मैं कहाँ,
क्या न था, परन्तु अब मेरा क्या रहा यहाँ ?
आज मैं विदेशिनी हूँ अपने ही देश में,
वन्दिनी-सी आप निज निर्मम निवेश में !

हा ! दुःस्वप्न ही मैं इसे मान कहीं सकती,
कैसे समझाऊँ मन, जान नहीं सकती।
मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है,
इन्द्राणी अभागिनी है, देवेश्वरी दीना है !

चर्चा कल्प-वृक्ष के फलों की क्या चलाऊँ मैं,
पारिजात-पुष्प ही तो एक चुन लाऊँ मैं !
मेरे उस नन्दन की, हाय ! कैसी लाज है,
सूखी हरियाली तक मेरे लिए आज है !

निज मुख देखने का इच्छुक क्यों उर है,
सखि, क्या मृगांक मेरा अब भी मुकुर है?"
चिर नवयौवना शची क्या हँसी खेद से,
निकली क्षणिक धूप वर्षा के विभेद से!

"यह मुख-चन्द्र देवि, नित्य परिपूर्ण है,
उड़ता अवश्य आज कुज्झटिका-चूर्ण है।
तूर्ण ही विकीर्ण होंगीं किरणें प्रथम-सी,
बैठी ही रहेगी यह वेला क्या विषम-सी?

फिर भी नहुष तो हमारे चिरभक्त हैं,
दानव नहीं वे महामानव सशक्त हैं।
अपना सहायक हमींने है उन्हें चुना,
उनके लिए क्या कभी और कुछ है सुना?"

"नहीं, किन्तु पद में सदैव एक मद है;
सीमा लाँघ जाता है उमड़ता जो नद है।
निश्चय है कब क्या किसीके मन का कहीं,
शंकित हो मेरा मन, आतंकित है यहीं।

देव सदा देव तथा दनुज दनुज हैं,
जा सकते किन्तु दोनों ओर ही मनुज हैं।
रह सकती हूँ सावधान दानवों से मैं,
शंकित ही रहती हूँ हाय! मानवों से मैं।

स्वामी भी कहाँ गये न जानें, मुझे छोड़के,
वे भी छिप बैठे दुःखिनी से मुहँ मोड़के!"
"ऐसा कहना क्या देवि, आपको उचित है?
आपसे क्या उनका विभिन्न हिताहित है?

धीरज न छोड़िए, प्रतीक्षा कर रहिए,
निष्क्रिय हो बैठेंगे कभी वे भला कहिए?"
"ठीक सखि, किन्तु मन कैसे रहे हाथ का,
गेह गया और साथ छूटा निज नाथ का।

कोई युक्ति हाय! मुझे आज नहीं सूझती,
सम्भव जो होता युद्ध तो मैं आप जूझती।
और मैं दिखाती, रस मात्र नहीं चखती,
देखते सभी, क्या शक्ति साहस हूँ रखती।

आहा! जब युद्ध हुआ शुम्भ से, निशुम्भ से,
दैत्यों ने किये थे पान दो दो मद-कुम्भ-से।
प्रलय मचा रही थीं धारें खरे पानी की,
तब थी शची ही पक्ष-रक्षिणी भवानी की।"

होकर भी स्वर्गेश्वरी घोर चिन्ता-चर्विता,
हो उठी प्रदीप्त आत्म-गौरव से गर्विता।
दीख पड़ी अश्रुमुखी धूल-धुली माला-सी,
किंवा धूम-राशि में से जागी हुई ज्वाला-सी!

"शक्ति से जो साध्य होगा, साधेगी उसे शची,
किन्तु क्या विवेक-बुद्धि आज उसमें बची?
कोई भी दिखादे मार्ग; गति मैं दिखाऊँगी,
चल, गुरु-शरण अभी मैं सखि, जाऊँगी।"

स्नान कर शीघ्र और ध्यान धर पति का,
लेने वरदान चली मानिनी सुमति का।
जल से निकलके भी डूबी-सी बनी रही!
तब भी निशा थी, सूक्ष्म चाँदनी तनी रही।

नहुष

"नारायण! नारायण! धन्य नर-साधना,
इन्द्र-पद ने भी की उसीकी शुभाराधना!"
बोल उठी नारद की वल्लकी गगन में,
जा रहे थे घूमने वे गङ्गातीर वन में।

उस स्वर-लहरी में लोट उठा गन्धवाह,
चाह की-सी आह उठी किन्तु बन वाह वाह?
चौंक अप्सराएँ उठ बैठीं और झूमीं वे,
नूपुर बजाके ताल ताल पर घूमीं वे!

किन्तु शची विमना, क्या देखती, क्या सुनती,
कितने विचार-सूत्र लेकर थी बुनती।
देव-ऋषि आप उसे देखा किये रुकके,
उसने प्रणाम उन्हें क्यों न किया झुकके?

दुर्वासा न थे वे, यही बात थी कुशल की,
क्रोध नहीं, खेद हुआ और दया झलकी।
"क्षम्य है विपन्ना, दयनीय यह दोष है,
स्वस्थ रहे कैसे, गया धाम-धन-कोष है।

लज्जानत नेत्र, यह देखे-पहँचाने क्या,
भीतर है कोलाहल, बाहर की जाने क्या।
ओहो!" क्षण मौन रहे फिर हिल डोले वे,
सहज विनोदी, आप अपने से बोले वे—

"फिर भी प्रणाम विना आशीर्वाद कैसे हो ?
और अपराध अपराध ही है, जैसे हो।
प्रायश्चित्त रूप कुछ दंड नहीं पायगा,
तो हे देवे ! दूषित ही दोषी रह जायगा।

मैं अपनी ओर से करूँगा कुछ भी नहीं,
किन्तु रुके विधि के अदृश्य कर भी कहीं ?
मानता हूँ सारे परिणाम मैं उचित ही,
रहता निहित है अहित में भी हित ही।

देख ली शची की दशा; अबला है अन्त में,
तस्कर-सा शक्र छुरा बैठा है दिगन्त में।
देखूँ नये इन्द्र का भी कैसा चमत्कार क्या ?
मैं तो हूँ तटस्थ, यहाँ मौज मँझधार क्या ?

विपिन नहीं तो आज इन्द्रोद्यान ही सही,
आवे जो अपने रस आप, अच्छा है वही।
रस अभिनेता नहीं, दर्शक ही होने में,
ठौर तो मिलेगा ही मिलेगा किसी कोने में !"

वीणा बजी सप्त स्वर और तीन ग्राम में ,
पहुँचे विचरते वे वैजयन्त धाम में ।
था सब प्रबन्ध यथा पूर्व भी नया नया ,
ढीला पड़ा तन्त्र फिर तान-सा दिया गया ।

अभ्युत्थान देके नये इन्द्र ने उन्हें लिया ,
मानी ने विनम्र व्यवहार विधि से किया ।
"आज का प्रभात सुप्रभात, आप आये हैं ,
दीजिये, जो आज्ञा स्वयं मेरे लिए लाये हैं !

उत्सुकता आगे चलती है सदा आपके ,
विविध विषय पीछे विश्व-वार्त्तालाप के ।
सत्साहित्य, सत्संगीत दोनों ओर रहता ,
लोकोत्तरानन्द दूना होकर है बहता ।"

"आर्द्र जो है क्यों न वह आप ही बहे-बहे ;
मानस भी तो हो, जहाँ रस रमता रहे ।
धन्य है मनस्विता हमारे मनुजेन्द्र की ,
रखते अमर भी हैं आशा इसी केन्द्र की !"

"मेरा अहोभाग्य" "हाँ, तुम्हारा पुरुषार्थ है,
दुर्लभ तुम्हें क्या आज कोई भी पदार्थ है?"
"सीमा क्या यही है पुरुषार्थ की पुरुष के?"
मुद्रा कुछ उत्सुक थी मुख की नहुष के।

मुनि मुसकाये और बोले—"यह प्रश्न? धन्य!
कौन पुरुषार्थ भला इससे अधिक अन्य?
शेष अब कौन-सा सुफल तुम्हें पाने को?"
"फल से क्या, उत्सुक मैं कुछ कर जाने को।"

"वीर, करने को यहाँ स्वर्ग-सुख-भोग ही,
जिसमें न तो है जरा-जीर्णता, न रोग ही।
साधन बड़ा है, किन्तु साध्य ही के अर्थ है,
अन्यथा प्रवृत्ति-पथ सर्वथा ही व्यर्थ है।

जोता और बोया फिर सींचा, फल छोड़ोगे?
जो है स्वयं प्राप्त क्या उसीसे मुहँ मोड़ोगे?"
बोला हँस नहुष—"समृद्धि स्वर्ग तक ही?
स्वर्ग जो न हो तो क्या ठिकाना है नरक ही?"

"मर्त्य है, रसातल है, किन्तु है पतन ही,
मुक्ति-पथ भी है, वहाँ गृह भी है वन ही।"
"पथिक उसीका जगती में यह जन था,
बीच में परन्तु यह नन्दन-भवन था!"

"देव-राज्य-रक्षण भी कौन थोड़ा श्रेय है,
जिसका प्रसाद रूप प्राप्त यह प्रेय है।
ऐसा रस पृथ्वी पर—" "मैंने नहीं पाया है;
यद्यपि क्या अन्त अभी उसका भी आया है?

अवधि तथापि स्वर्ग-भोग की भी होगी ही,
और पृथ्वी पर भी न होंगे सब रोगी ही।
मान्य मुने, अन्त में हमारी गति तो वहीं,
और मुझे गर्व ही है, लज्जा इसमें नहीं।

ऊँचे रहें स्वर्ग, नीचे भूमि को क्या टोटा है?
मस्तक से हृदय कभी क्या कुछ छोटा है?
व्योम रचा जिसने, उसीने वसुधा रची,
किस कृति-हेतु नहीं उसकी कला बची?

मेरी भूमि तो है पुण्यभूमि वह भारती,
सौ नक्षत्र-लोक करें आके आप आरती।
नित्य नये अंकुर असंख्य वहाँ फूटते,
फूल झड़ते हैं, फल पकते हैं, टूटते।

सुरसरिता ने वहाँ पाई हैं सहेलियाँ,
लाखों अठखेलियाँ, करोड़ों रंगरेलियाँ!
नन्दनविलासी सुरवृन्द, बहु वेशों में,
करते विहार हैं हिमाचल-प्रदेशों में।

सुलभ यहाँ जो स्वाद, उसका महत्व क्या?
दुःख जो न हो तो फिर सुख में है सत्व क्या?
दुर्लभ जो होता है, उसीको हम लेते हैं,
जो भी मूल्य देना पड़ता है, वही देते हैं।

हम परिवर्तमान, नित्य नये हैं तभी,
ऊब ही उठेंगे कभी एक स्थिति में सभी।
रहता प्रपूर्ण है हमारा रंगमंच भी,
रुकता नहीं है लोक-नाट्य कभी रंच भी।

मार्ग सीधा सरल नहीं है हम लोगों का,
रंगस्थल-सा है वह गति के प्रयोगों का।
विघ्न में विचरते हैं, डर सकते हैं हम?
नर हैं, अमर नहीं, मर सकते हैं हम!

व्याधि, जरा, मृत्यु है तो जन्म भी तो है नया;
आया फिर नूतन हो; जीर्ण होके जो गया।
आवश्यक विष भी कभी है योग्य मात्रा में,
स्वर्ग भी विराम एक है हमारी यात्रा में!"

राजा था गभीर, मुनि बोले हँसी रोक के,
"वीर, पक्षपाती रहो तुम नरलोक के।
जीवमात्र को ही निज जन्म स्थान प्यारा है,
किन्तु भूलते हो, सुरलोक भी तुम्हारा है।

कर सकते हो तुम सत्य-सा अलीक भी,
और है तुम्हारा निज पक्षपात ठीक भी।
विस्मित वा सुस्मित भले ही अमरत्व हो,
तो भी तुम्हें पाके क्यों न गर्वित नरत्व हो!

विस्मय मुझे है, यों विषण्ण तुम क्यों यहाँ ?
सहज किसीको यह धाम मिलता कहाँ ?
करके कठोर तप, छोर नहीं जिसका,
देना पड़ता है फिर देह मूल्य इसका !

कहते हैं, स्वर्ग नहीं मिलता बिना मरे,
पाया इसी देह से है तुमने, इसे हरे !"
नम्र हुआ नहुष सलज्ज मुसकान में-
"त्रुटि तो नहीं थी यही मेरे मूल्य-दान में ?"

"पूर्णता भी चाहती है ऐसी त्रुटि चुनके !"
"मैं अनुगृहीत हुआ आज यह सुनके।
देव, यहाँ सारे काम-काज देखता हूँ मैं ;
निज को अकेला-सा तथापि लेखता हूँ मैं।

चोट लगती है, यह सोचता हूँ मैं जहाँ,
छूत तो किसीको इस तनु से नहीं यहाँ ?
यद्यपि कुभाव नहीं कोई भी जनाता है,
तो भी स्वाभिमान मुझे विद्रोही बनाता है !"

"आह ! मनोदुर्बलता, वीर, यह त्याज्य है ,
आप निर्जरों ने तुम्हें सौंपा निज राज्य है ।
दानवों से रक्षा कर भोगो इस गेह को ,
मानो देव-मन्दिर ही निज नर-देह को ।"

"आपकी कृपा से मिटी ग्लानि मेरे मन की ,
प्रकट कृतज्ञता हो कैसे इस जन की ?"
बोले हँस नारद प्रसन्न कल-वर्णों से—
"ज्ञाता है अधिक मेरा मन ही स्वकर्णों से ।"

उर्वशी

"आँखों और कानों की सुधा भी आज पान की!"
की यों नये इन्द्र ने प्रशंसा नृत्य-गान की—
"सचमुच स्वर्ग में हैं एक नहीं, सौ शशी!"
"हस्तगत आपके वे!" बोली नम्र उर्वशी—

"सार्थक हमारा श्रम, गुण है गुणज्ञ से,
स्वर्ग के अशेष गुणी सोचते थे अज्ञ-से—
अमरावती में भी उदास-से क्यों आप हैं?
आपको रिझावें, वह कौन नृत्यालाप हैं?"

"हाँ, संकोच-सा था कुछ, था न मैं नया नया,
कार्य भी नया था, अब परिचित हो गया।
वस्तुतः यहाँ की प्रजा इतनी विशिष्ट है,
उसके हितार्थ कोई राजा नहीं इष्ट है।"

"आपकी उदारता कहाँ तक सराहिए,
फिर भी प्रतीक एक चाहिए ही चाहिए।
पाली इसी भाँति प्रजा भू पर भी आपने,
दूर किये पाप-दैत्य जिनके प्रताप ने।

अब जो यहाँ है, सब आपका ही भोग्य है।"
"तो भी कुछ करना कहीं भी मुझे योग्य है।
देवों के नहीं तो मानवों के ही लिए सही,
देखता हूँ, कितने अभाव से भरी मही।"

"धन्य ! कर्म करना ही धर्म रहा आर्य का ,
उत्सुक हूँ, मैं भी शुभारम्भ सुनूँ कार्य का ?"
"पहला निदेश क्यों न दूँ मैं इष्ट-वृष्टि का ,
जीवन का मूल जल ही है सब सृष्टि का ।

मेघ जल मात्र नहीं, बरसावें रत्न भी ,
और करें आवश्यक छाया का प्रयत्न भी ।
स्वर्ग का समीर—" "क्षमा धृष्टता हो बीच में ,
ग्राह्य पद्मिनी-सी सूक्ति, चाहे मिले कीच में ।

समझी मैं, पृथ्वी पर धान्य-धन-वृद्धि हो ,
और सुरलोक की-सी उसकी समृद्धि हो ?
किन्तु अमरत्व क्या इसीसे नर पा लेंगे ?
उलटी मनुष्यता भी अपनी गवाँ देंगे ।

पायँगे प्रयास-बिना लोग खाने-पीने को ,
फिर क्यों बहायँगे वे श्रम के पसीने को !
होंगे अकर्मण्य, उन्हें क्या क्या नहीं सूझेगा ?
कोई कुछ मानेगा न जानेगा न बूझेगा !

मान्य विबुधों को भी यथार्थ मनुष्यत्व है,
उसमें परम तप-त्याग तथा तत्व है।
जो कुछ भी है जहाँ भी, सो उसीके हाथ है,
देखिए, उसीसे आज स्वर्ग भी सनाथ है!

व्योम-सा विशेष शेष अब भी विकास है,
चाहता निरन्तर जो नर का प्रयास है।
कर्म-यज्ञ में ही अभी होना उसे हुत है,
उसने बहुत किया, करना बहुत है।

कर्म करें लोग, इतना ही नहीं इष्ट है,
शिष्ट है वही जो कर्म-कौशल-विशिष्ट है।
होगा वह क्या बड़ा, जो विघ्नों से नहीं लड़ा?
यों तो सुखी शान्त वही, जो जड़ हुआ पड़ा।

'कुछ न करूँ मैं और कोई सब करदे,
लाके इष्ट वस्तु मेरे आगे बस धरदे।'
ऐसा क्लीव-कापुरुष सबका सहेगा शाप,
भोग क्या करेगा, जो न अर्जन करेगा आप?

जीत तो उन्हींकी प्राण-पण जो लगायँगे,
रत्न भी जो बरसेंगे, लोष्ट बन जायँगे।
आप मणि-गर्भा भूमि रत्नाकर-कक्ष में,
किन्तु रहे विष भी सुधा के साथ लक्ष में।

लेंगे अनुकूल एक वस्तु हम जो जहाँ,
लेनी ही पड़ेगी प्रतिकूल दूसरी वहाँ।
जानना ही होगा हमें दोनों का छिपा रहस्य,
स्वारस्यार्थ रखना पड़ेगा सदा सामंजस्य।

जिससे प्रबन्ध न हो आवश्यक छाया का,
चेतन कहाँ है उस जड़-जन-काया का?
सूर्य ही उगें क्यों, मेघ छाया जो किया करें?
किंवा वे जियें ही क्यों, मरे-से जो जिया करें?

छाया के लिए जो नित्य मेघ भेजे जायँगे,
दुर्दिन ही भूमि के दिनों को वे बनायँगे।
यदि न तपेगी धरा, ठंडी पड़ जायगी,
उर्वरा क्या होगी, सील पाके सड़ जायगी।

यौवन तो उष्ण ही है, ठंडी मृत्यु ज्यों जरा,
पौरुष लगे तो करे मरु भी हरा भरा।
इष्ट बस बुद्धि, बल, कौशल, क्षमा, दया,
बढ़के विराम से है काम ही नया नया!

वाहक है वायु तो हमारे गन्ध मात्र का,
शौचाशौच, सोचिए, पदार्थ का या पात्र का?
स्वर्ग या नरक तो निवासी ही बनाता है,
एक ही समीर उन दोनों को जनाता है।

सूर्य तपें, अग्नि जलें, वायु चलें, वृष्टि हो,
देह-धारियों की निज धर्म्म में ही दृष्टि हो।
नर निज कर्म करें, देव जानें अपनी,
निज मति मैंने कही, आप मानें अपनी।"

"मेरे मन की ही कही तुमने हे उर्वशी,
मैं हूँ इस कण्ठ—इस वाणी का सदा वशी।
सचमुच जैसा मूल्य, वैसा ही पदार्थ है,
हाँ हाँ, पुरुषार्थ, पुरुषार्थ, पुरुषार्थ है!

किन्तु मेरी मातृभूमि, मेरी नर जाति को,
मेरा कौन मूल्य मिला, छोड़ दो जो ख्याति को ?"
बोली हँस अप्सरा—"अमूल्य यह वित्त था,
त्याग इसका तो हम देवों के निमित्त था !"

राजा भी सहर्ष हँसा, शतदल-सा खिला,
"मेरे इन्द्र होने से तथापि उन्हें क्या मिला ?"
"गुर्वी हुई उर्वी उस गौरव की व्याप्ति से,
धन्य हुए मानव अपूर्वादर्श प्राप्ति से।"

मुग्ध-सा नहुष बोला, देख उसे स्नेह से।
"तो फिर तुम्हीं लो कुछ काम इस देह से।"
"आपमें हमारा काम आज मूर्त्तिमन्त है !
चलिए न, नन्दन में उत्सुक वसन्त है !!'

स्वर्गभोग

आया यह कौन पंछी नन्दन विपिन में ?—
लेता जो विराम न तो रात में न दिन में।
फल सुर-पुर के सभी जो लिये लेता है,
जूठे कर किंवा और मीठे किये देता है !

सेवन से और और बढ़ते विषय हैं,
अर्थ जितने हैं सब काम में ही लय हैं।
एक बार पीकर प्रमत्त हुआ जो जहाँ,
सुध फिर अपनी-पराई उसको कहाँ?

भूल गया, देखेंगे भविष्य जब आयगा,
ले लें वर्त्तमान अभी वह भी तो जायगा।
पीछे कुछ भी हो, स्वाद चाहिए ही खाने में,
अच्छी लगती है खुजली भी खुजलाने में।

दिव्य भाग पाके भव्य याग तथा त्याग से,
रंजक भी राजा आज रंजित था राग से।
ऐसा नर पाके धन्य स्वर्ग का भी भोग था,
नर के लिए भी यह चरम सुयोग था।

देव-नृत्य देख, देव-गीत-वाद्य सुनके,
नन्दन विपिन के अनोखे फूल चुनके,
इच्छा रह जाती किस अन्य फल की उसे?
चिन्ता न थी आज किसी और कल की उसे।

सुन सुन राग तथा देख देख रंग-रूप,
हुआ राग-रंग-मय आप रूप-शाली भूप।
जागी अभिलाषा, पूर्ति पाके बढ़ने लगी,
मानस के मद की नदी-सी चढ़ने लगी।

प्रस्तुत समक्ष उसे स्वप्न की-सी बातें थीं,
सोकर क्या खोने के लिए वे रम्य रातें थीं?
प्रातःकाल होता था विहार देव-नद में,
किंवा चन्द्रकान्त मणियों के हृद्य ह्रद में।

भूख और प्यास भी बुलाओ तभी आती थी,
प्यार ही वहाँ की सार तत्व पहुँचाती थी।
करता न किन्तु नृप पीने में प्रमाद था,
वासवे-सुरासव का कैसा कुछ स्वाद था!

नेत्र ही भरे थे नर-देव के न मद से,
होती थी प्रकट एक झूम पद पद से।
ऊपर से नीचे तक मत्तता न थी कहाँ,
ऐरावत से भी दर्शनीय वह था वहाँ।

अधमुँदी आँखें अहा ! खुल गईं अन्त में—
पाकर शची की एक झलक अनन्त में !
आया था विहारी वह राजहंस-तरि से ,
यह निकली ही थी नहाके सुरसरि से ।

यह घटना-सी घटी सुषमा की सृष्टि में ,
अद्‌भुत यथार्थ थी कल्पना की दृष्टि में !
निकली नई-सी यह वारि से वसुन्धरा ,
वर तो वही है बस, इसने जिसे वरा !

देखता ही राजा रहा, सुध-बुध भी बही ,
ओझल हुई भी वह दीखती-सी ही रही—
रूप-रानी ! कंचुकी-सी स्थिति नरनाथ की ,
जान पड़ीं चेरियाँ-सी अप्सराएँ साथ की ।

किन्तु वह मानी मानता क्या हार-हीनता ?
सँभला सशक्त शीघ्र दूर कर दीनता ।
पूछना पड़ा न उसे परिचय उसका ,
करती थीं अप्सराएँ जय जय उसका ।

"ओ हो यह इन्द्राणी !" उसाँस भर बोला वह ,
बैठा रहके भी आज आसन से डोला वह !
उद्धतता छोड़कर ध्यानमग्न हो गया ,
पाकर तदात्मभाव आत्मभाव खो गया !

चित्त था निवृत्त हुआ सलिल-विहार से ,
उसने निभाया उसे मात्र शिष्टाचार से ।
सन्ध्या-वन्दनादि किया अभ्यासानुसार ही ,
सम्मुख था उसके शची का चमत्कार ही ।

"यह दिपी, वह छिपी, दामिनी-सी क्षण में !
जागी इसी बीच नई कान्ति कण कण में ।
मेरी साधना की गति आगे नहीं जा सकी ,
सिद्धि की झलक एक दूर से ही पा सकी ।

विस्मय है किन्तु यहाँ भूला रहा कैसा मैं ?
इन्द्राणी उसीकी इन्द्र है जो, आज जैसा मैं ।
इन्द्राणी रहेगी वही, इन्द्र जो हो सो सही ,
होगी हाँ कुमारी फिर, चिर युवती वही ।

तो क्यों मुझे देख वह सहसा चली गई?
आहा मैं छला गया हूँ, या वही छली गई?
एक यही फूल है जो हो सके पुनः कली!
इतने दिनों तक क्यों मैंने सुध भी न ली?

यत्र तत्र घूमना भी अच्छा है यदा कदा,
रक्खी है न जाने कहाँ कौन निज सम्पदा।
आज अकस्मात ही मैं पहुच गया वहाँ,
मेरी स्वर्ग-राज्यलक्ष्मी मूर्त्तिमती थी जहाँ!

इन्द्र होके भी मैं गृहभ्रष्ट - सा यहाँ रहा,
लाख अप्साराएँ रहें, इन्द्राणी कहाँ? अहा!
ऊलती तरंगों पर झूलती-सी निकली,
दो दो करी—कुम्भी यहाँ हूलती-सी निकली!

क्या शक्रत्व मेरा, जो मिली न शची भामिनी?
बाहर की मेरी सखी भीतर की स्वामिनी।
आह! कैसी तेजस्विनी आभिजात्य-अमला,
निकली सुनीर से यों क्षीर से ज्यों कमला!

कौन ऐसा, मुझसे जो 'हाँ' कहे बिना रहे,
मानो वही एक है जो चाहे जब 'ना' कहे !
छोड़कर ऐसी वर-वर्णिनी सुयोगिनी,
मेरी महिषी के योग्य होगी कौन भोगिनी ?

एक ओर पर्त-सा त्वचा का आर्द्र पट था,
फूट - फट रूप दूने वेग से प्रकट था।
तो भी ढके अंग घने दीर्घ कच-भार से,
सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि-धार से !

दिव्यगति लाघव सुरांगिनाओं ने धरा,
स्वर्ग में सुगौरव तो है शची से ही भरा।
देह धुली उसकी या गंगाजल ही धुला;
चाँदी घुलती थी जहाँ, सोना भी वहाँ घुला !

मुक्ता-तुल्य बूँदें टपकी जो बड़े बालों से,
चू रहा था विष या अमृत वह कालों से ?
आ रही हैं लहरें अभी तक मुझे यहाँ,
जल-थल-वायु तीनों पानेच्छुक थे वहाँ।

बाह्य ही जहाँ का बना जैसे एक सपना,
देखता मैं कैसे वहाँ अन्तःपुर अपना ?
सबसे खिंचा-सा रहा उद्धत प्रथम मैं,
फिर जिस ओर गया, हाय ! गया रम मैं।

वस्तुतः शची के लिए बात थी विषाद की,
माँगूँगा क्षमा मैं आज अपने प्रमाद की।
ऊँचा यह भाल व्योम-भार धरे जावेगा,
उसके समक्ष झुक गौरव ही पावेगा।"

सन्देश

काल अपराह्न, तरु तन्द्रित-से चुप थे,
नीचे मृग, ऊपर विहग बैठे चुप थे।
अस्थिर शची ही थी सखी के साथ मन में—
शान्त सुरगुरु के सुरम्य तपोवन में।

चिन्तित थी आज वह दूनी अन्य दिन से,
काम उस कोमल को था पड़ा कठिन से।
देवदूती आई देख बोली आप उससे—
"जान लिया, भेजी गई होगी तू नहुष से।

करना न यत्न व्यर्थ बातों में भुलाने का,
लाई है निदेश ही न मुझको बुलाने का?
"जय महादेवि, दासी आवेदन लाई है,
देने नहीं, लेने ही निदेश यहाँ आई है।

माँग बार बार क्षमा लज्जा-अनुताप से,
देव ने निवेदन किया है यह आपसे—
'काम ने फँसाया मुझे ऐसा वैजयन्त में,
राते चरणों का अपराधी किया अन्त में!

वंचित जो सेवा से मुझे है रहना पड़ा,
मानता हूँ दण्ड मैं इसीको अपना बड़ा।
दण्ड के अनन्तर बड़ों को दया आती है,
वह कुछ अपनी विशेषता ही लाती है।

खेद है तथापि मुझे यह कहते हुए—
दण्ड का, क्षमा का अधिकार रहते हुए।
त्याग बैठीं आप मुझे और स्वयं आपको,
मेटे कौन प्रायश्चित्त इस अभिशाप को ?

मान भी बड़ों को बड़े रूप में ही होता है,
लेके अपने को क्या सभी को वह खोता है ?
ऐसे हठ-शील से मुझे भी जूझने की चाह,
जैसी बड़ी बाधा जहाँ, वैसा बड़ा वीरोत्साह।

दूना-सा अकेले मुझे शासन का भार है,
आधा कर दे जो उसे, ऐसा सहचार है।
इस सिर को भी टेकने को एक ठौर हो,
उन चरणों को छोड़ कौन वह और हो ?

सह नहीं सकता विलम्ब और अब मैं,
आज्ञा मिले शीघ्र मुझे, आऊँ कहाँ—कब मैं ?
प्रेम-सन्धि-विग्रह के पात्र प्रिय कान्ता-कान्त,
देश अहा ! शान्तैकान्त, काल बस वासरान्त !'–"

"पाप शान्त, पाप शान्त, रह, चुप रह तू ,
जाके निज देव से सँदेशा यह कह तू—
'सौंपा धन-धाम तुम्हें और गुण - कर्म भी ,
रख न सकेंगी हम अन्त में क्या धर्म भी ?

जैसे धनी-मानी गृही जाय तीर्थ-कृत्य को ,
और घर - बार सौंप जाय भले भृत्य को ।
सौंपा अपने को यह धाम वैसे मानो तुम ,
थाती इसे जानो, निज धर्म पहँचानो तुम ।

होता है तदात्मरूप प्रतिनिधि किसका ?
साधारण कार्य करे चाहे वह जिसका ?
त्यागो शची-कान्त बनने की पाप-वासना ,
हर ले नरत्व भी न काम-देवोपासना !'

कह के 'जो आज्ञा' गई देवदूती नत हो ,
बैठी रही इन्द्राणी अवाक जैसे हत हो ।
उठ फिर हाथ हिला पागल-सी डोली वह ,
अस्फुट न जानें आप क्या क्या कुछ बोली वह ।

देख कुछ काल उसे अस्थिर इसी प्रकार,
गुरु के समीप सखी ले गई किसी प्रकार।
दूती से सुना जो उस ओर उसका कहा,
वैसा ही नहुष आप आपे में नहीं रहा।

"अच्छा! इन्द्र-पद का नहीं हूँ अधिकारी मैं?
सेवक - समान देव - शासनानुचारी मैं?
स्वर्ग-राज्य तो क्या, अपवर्ग भी है एक पण्य,
मूल्य गिन दे जो धनी, ले ले वह आप गण्य!

असुर पुलोम-पुत्री इन्द्राणी बने जहाँ,
नर भी क्यों इन्द्र नहीं बन सकता वहाँ?
कौन कहता है, नहीं आज सुर-नेता मैं?
पाकशासनासन का मूल्य-दाता, क्रेता मैं।

रखते हुए भी सब दृष्टियों से स्वाधिकार,
यह पद लेने का न मैंने था किया विचार।
साग्रह सुरों ने स्वयं सौंपी मुझे शक्रता,
कैसी फिर आज यह वासवी की वक्रता?

जाना अब, मान की नहीं, घृणा की दृष्टि डाल,
बच निकली हो वह जैसे आज प्रातःकाल।
थोड़ा वही जो न करें देवी सुकुमारियाँ,
मान करती हैं, अपमान नहीं नारियाँ।

प्रस्तुत मैं मान रखने को एक तृण का,
और मैं ऋणी हूँ परमाणु के भी ऋण का!
अपना अनादर परन्तु यदि मैं सहूँ,
तो फिर 'पुरुष हूँ मैं' किस मुहँ से कहूँ?

घोर गृह-युद्ध ठन जाय, चाहे अन्त में,
आना ही पड़ेगा, वासवी को वैजयन्त में।
अपना पतित्व नहीं सिद्ध कर पाऊँगा,
तो मैं कापुरुष-सा स्वयं ही हट जाऊँगा।"

मन्त्रणा

देवकुल-गुरु को प्रणाम कर दूत ने,
सन्देसा सुनाया, जो कहा था पुरहूत ने—
"आपकी कृपा से देवकार्य विघ्नहीन है,
जाकर रसातल में दैत्यदल दीन है।

बाहर की जितनी व्यवस्था, सब ठीक है,
घर की अवस्था किन्तु शून्य है, अलीक है।
फिर भी शची थीं इस बीच आपके यहाँ,
और मायके-सा मोद पा रही थीं वे वहाँ।

आज्ञा मिले, सुध लें वे अब इस गेह की,
न्यूनता यहाँ भी नहीं आदर की, स्नेह की।
चाहता हूँ, आऊँ उन्हें लेने स्वयं प्रीति से,
आप जो बतावें उसी राजोचित रीति से।"

"सुन लिया मैंने, प्रतिवाक्य पीछे जायगा,
कहना, विलम्ब व्यर्थ होने नहीं पायगा।"
कह गुरुदेव ने यों दूत को बिदा किया,
और मन्त्रणार्थ मुख्य देवों को बुला लिया।

बैठे यथास्थान सब देव उन्हें नत हो,
बोले गुरु—"सुगत, सुचिन्तित, सुमत हो।
ईश्वर का जीव से यही है एक कहना—
'तू निश्चिन्त होके कहीं बैठ नहीं रहना!"

नर अधिकारी आज देवराज - पद का—
किंवा वह लक्ष्य हुआ हाय ! सुर-मद का।
सम्प्रति शची में हठी नहुष निरत है,
सोचो कुछ युक्ति, शची उससे विरत है।"

माँग जो नहुष की थी सबने सुनी, गुनी,
किन्तु हो सके हैं कब एक मत दो मुनी।
एक ने उचित मानी, अनुचित अन्य ने,
तो भी दिया मुक्त मत किस मतिमन्य ने?

"भटका स्वयं है तर्क खोजने जा तत्व को,
फिर भी न माने कौन उसके महत्व को?
शंका बधू जेठी; वर हेठो, समाधान है!"
बोले श्रीद—"मत तो शची का ही प्रधान है।"

"मेरा मत"—मानधना बोली—"पूछते हो आज?
पूछ लूँ क्या मैं भी, क्यों बनाया उसे देवराज?
कोई न था तुममें जो भार धरे तब लों,
स्वामी कहीं प्रायश्चित्त पूरा करें जब लों?

मर्त्य नर मेरी अमरावती का स्वामी है,
कठिन तपस्वी वह किन्तु क्रूर कामी है।
दूसरे का पुण्य बने पाप एक जन का,
तो भी क्या उपाय नहीं उसके शमन का?

नर के बिना क्या नष्ट सारा सुरकार्य था?
सेवक को स्वामी कर लेना अनिवार्य था?"
"हाय महादेवि!" बोले व्यथित वरुण यों—
"अपने ही ऊपर क्यों आप निष्करुण यों?

मारा जिस वज्र ने है वृत्र को अभी अभी,
होता नहीं निष्फल प्रयोग जिसका कभी,
व्यर्थ वह भी है यहाँ, अक्षत है धर्म तो,
काटा नहीं जा सकता वज्र से भी कर्म तो।

कोई जो बड़े से बड़ा फल भी न पावेगा,
ऊँचे उठने का फिर कष्ट क्यों उठावेगा?
कर्म ही किसीके उसे योग्य फलदायी हैं,
देव पक्षपाती नहीं, समदर्शी, न्यायी हैं।

योग्य अनुगत को बढ़ाते क्यों न आगे हम ?
दान-मान देने में किसीको कहाँ भागे हम ?
निज-पर-भेद मर्त्य नर ही किया करें,
अमर उदार हम वर ही दिया करें।

बद्ध है पुरुष आप अपनी प्रकृति से,
नहुष तथापि उठा ऊँचा धर्म-धृति से।
हमने दिखाई गुणग्राहकता मात्र ही,
अब कुछ भी हो वह, तब तो था पात्र ही।

क्या देवत्व छोड़ें हम और नर हों वही,
खण्ड खण्ड जिससे हुई है महती मही ?
जो न एक सार्वभौम भाषा भी बना सका,
जान सका पर की न अपनी जना सका।

भूल हम भी क्या एक वाणी बहु-भाषी हों ?
भूल विश्व-भाव अपने ही अभिलाषी हों ?
राज्य, देश किंवा निज जन्मभूमि कह कह,
घेरे में घिरे-से लड़ें आपस में रह रह ?

हाय ! उपमेय हों क्या हम उपमान से ?
मर हों अमर से या क्षुद्र हों महान से ?
दर्प, दम्भ और ऊँच-नीच करते रहें ?
दुःख से ही जीते, दुःख से ही मरते रहें !

वस्तुस्थिति जो है, सब आपके समक्ष है,
और कुछ भी हो, उसका भी एक पक्ष है।
आपके लिए भी विधि है यदि उसे वरें,
सोचें परिणाम फिर आप कुछ भी करें।"

"मैं तो मनःपूत ही को मानती हूँ आचरण,
ऐच्छिक विषय मेरा व्यक्ति - वरणावरण।
सत्ता हाँ समाज की है, वह जो करे, करे;
एक अबला का क्या, जिये, जिये; मरे, मरे।

सौंपा स्वयं राज्य, नहीं कोई कुछ बोला भी,
दे दो निज रानी का स्वयं ही आज डोला भी !"
हुंकारें सभा में उठीं, रोने-सी लगी शची—
"सब गया, हाय लज्जा भी नहीं बची।

मेरे नष्ट होने से बचें जो सब सुख से,
नाहीं निकले तो भला कैसे इस मुख से ?
सह लें सभी जो धर्म-हानि एक जन की,
तो क्या यह तुच्छ तन, मन में है मन की।

जाकर नहुष से अकेली ही अड़ूँगी मैं,
लड़ न सकूँगी तो पदों पर पड़ूँगी मैं।
राज्य छोड़ निष्कृति ही माँगूँगी विनय से,
सौ सौ देवबालाएँ उसीकी स्वर्ग-जय से।

किंवा यह सारी कृपा ऋषि-मुनियों की है,
गरिमा गभीर गूढ़ उन गुनियों की है।
मारने को आततायी ब्रह्मदैत्य यति को,
हत्या ऋषियों ने ही लगाई देवपति को।

धिक ! वह विधि ही निषिद्ध मेरी स्मृति में,
दोष मात्र देखे जो हमारी कृति कृति में।
हमने किया सो आत्म-रक्षा के लिए किया,
ध्यान इस पर भी किसीने कुछ है दिया ?

आहुतियाँ देके इस नहुष अभाग को;
दूध ऋषियों ने ही पिलाया काल नाग को।
अच्छा तो उठाके वही कन्धों पर शिविका,
लावें उस नर को, बनाके वर दिवि का!"

"बस बस" बोल उठे वाचस्पति—"हो गया,
यान हो शची के नये वर का यही नया।
आवें ऋषि, लावें नरदेव को उछाह में,
कुछ तो अपूर्वता हो उनके विवाह में!"

पतन

"प्रस्तुत हैं देवी, देव, लेने उन्हें जाइए,
निज शिविका को ऋषियों से उठवाइए।"
"ऋषियों से ?" "कोई पूर्व वैर उन्हें लेना है,
और नया वाहन-विनोद—" "मुझे देना है ?"

विस्मित नहुष और मुग्ध हुआ सुनके,
"धन्य शची, तुमने लिया क्या वैर चुनके।
क्यों न हो, सुरेश्वरी मनस्विनी जो ठहरी,
डूबूँ कब पाके उस मानस की लहरी!

कहती मनोरथ कहाँ हैं स्त्रियाँ मन का,
आप पूर्ण करने में पौरुष है जन का।
ऋषि-मुनियों से भी असम्भव नहीं है दोष,
दोषियों के ऊपर उचित ही है राज-रोष।

मैंने दस्युओं को ऋषि-वाहक बनाया है,
उस ऋण-शोध का ही योग यह आया है।
अपने लिए नहीं, प्रिया के लिए, स्वाँग यह,
मेरी मान के ही ऋषि पूरी करें माँग यह।

नाश करने को दैत्य-रूपी लोक-भय का,
वाहन बने जो इन्द्र बैल पुरंजय का।
तो क्या ऋषिवृन्द उसी लोक-प्रजा-पाल की
उसकी प्रिया के लिए, ले न चलें नालकी?"

"वृष बनना भी"–ऋषि बोले–"धर्म-हेतु ठीक ,
वाहन बनाना हमें काम की ही नई लीक ।
सह्य किन्तु राजा की अनीति भी तो एक बार ,
अच्छी बात भुगतेंगे हम यह विष्टि-भार ।"

सच्चे भारधारियों का होगया भृकुटि-भंग—
"आज कुछ होगा सही, अच्छे नहीं रंग-ढंग ।
पालकी उठाना कुछ संहिता बनाना है ?
या कहीं निमन्त्रण में जाके जीम आना है ?"

मत्त-सा नहुष चला बैठ ऋषियान में ,
व्याकुल-से देव चले साथ में, विमान में ।
पिछड़े तो वाहक विशेषता से भार की ,
आरोही अधीर हुआ प्रेरणा से मार की !

"दीखता है कठिन मुझे तो मार्ग कटना ,
यह बढ़ना है तो कहूँ मैं किसे हटना ?
बस क्या यही है बस, बैठ विधियाँ गढ़ो ?
अश्व से अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो ।"

वार वार कन्धे फेरने को, ऋषि अटके,
आतुर हो राजा ने सरोष पैर पटके।
क्षिप्त पद हाय! एक ऋषि को जा लगा,
सातों ऋषियों में महा क्षोभानल आ जगा!

"भार बहें, बातें सुनें, लातें भी सहें क्या हम?
तू ही कह क्रूर, मौन अब भी रहें क्या हम?
पैर था या साँप यह, डँस गया संग ही,
पामर, पतित हो तू होकर भुजंग ही।"

राजा हततेज हुआ शाप सुनते ही काँप,
पीकर जगा गया हो जैसे उसे पीनासाँप!
श्वास टूटने-सी मुख-मुद्रा हुई विकला,
"हा! यह हुआ क्या?" यही व्यग्र वाक्य निकला।

जड़-सा सचिन्त वह नीचा सिर करके,
पालकी का नाल, डूबते का तृण धरके।
शून्य-पट-चित्र हुआ घुलता-सा दृष्टि से,
देखा फिर उसने समक्ष शून्य दृष्टि से।

दीख पड़ा उसको न जाने क्या समीप-सा,
चौंका एक साथ वह बुझता प्रदीप-सा—
"संकट तो संकट, परन्तु यह भय क्या?
दूसरा सृजन नहीं मेरा एक लय क्या?"

सँभला अदम्य मानी खींचकर ढीले अंग—
"कुछ नहीं, स्वप्न था सो हो गया भला हो भंग।
कठिन कठोर सत्य! तो भी शिरोधार्य है,
शान्त हों महर्षि, मुझे शाप अंगीकार्य है।"

दुःख में भी राजा मुसकाया पूर्व-दर्प से—
"मानते हो तुम अपने को डँसा सर्प से।
होते ही परन्तु पदस्पर्श भूल-चूक से,
मैं भी क्या डँसा नहीं गया हूँ दन्दशूक से?

मानता हूँ, भूल हुई, खेद मुझे इसका,
सौंपे वही कार्य उसे धार्य हो जो जिसका।
स्वर्ग से पतन, किन्तु गोत्रिणी की गोद में,
और जिस जोन में जो, सो उसीमें मोद में।

काल गतिशील, मुझे लेके नहीं बैठेगा,
किन्तु उस जीवन में विष घुस पैठेगा।
तो भी खोजने का कुछ कष्ट जो उठावेंगे,
विष में भी अमृत छिपा वे कृती पावेंगे।

मानता हूँ, आड़ ही ली मैंने स्वाधिकार की,
मूल में तो प्रेरणा थी काम के विकार की।
माँगता हूँ आज मैं शची से भी खुली क्षमा,
विधि से बहिर्गता भी साध्वी वह ज्यों रमा।

मानता हूँ, भूल गया नारद का कहना—
'दैत्यों से बचाये यह भोग धाम रहना।'
आ घुसा असुर हाय! मेरे ही हृदय में,
मानता हूँ आप लज्जा पाप-अविनय में।

मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता।
आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूँगा कल मैं ही अपवर्ग भी।

तन जिसका हो, मन और आत्मा मेरा है,
चिन्ता नहीं बाहर उजेला या अँधेरा है।
चलना मुझे है, बस अन्त तक चलना;
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना।

गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी?
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।

चाहे जहाँ मेरे उठने के लिए ठौर है,
किन्तु लिया आज मैंने भार कुछ और है।
उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ,
मेरी देवता भी और ऊँची उठे मेरे साथ।"

तथास्तु

टिप्पणी

स्वर्गीय मुंशी अजमेरी से लेखक ने सुना था,
ारवाड़ में एक साँप होता है, जिसे पीनासाँप कहते हैं।
ना है, वह सोते हुए मनुष्य के सामने आकर बैठ जाता
ौर उसकी साँसें पीने लगता है। पी चुकने पर,
के प्रहार से सोते हुए को जगा कर वह चल देता है।
गा हुआ जन 'हाय! मुझे पीना पी गया, हाय!
े पीना पी गया,' कहकर छटपटाने लगता है। सम्भवतः
ह साँप सोते हुए मनुष्य की साँसों के द्वारा उसके भीतर
ना विष पहुँचा देता है। इसी बात के आधार पर
ग्रस्त नहुष के विषय में कहा गया है—

पीकर जगा गया हो जैसे उसे पीनासाँप।

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित काव्य—

साकेत	५)
जय भारत	७)
गुरुकुल	३)
यशोधरा	१॥)
द्वापर	२)
सिद्धराज	१।)
हिन्दू	२)
भारत-भारती	२)
जयद्रथ-वध	॥।)
झंकार	१॥)
पत्रावली	।=)
बक-संहार	॥)
वन-वैभव	॥)
सैरन्ध्री	॥)
पञ्चवटी	॥।)
अजित	१॥)
हिडिम्बा	॥।)
अञ्जलि और अर्घ्य	॥।)
प्रदक्षिणा पाठ्य संस्करण	॥=)
प्रदक्षिणा विशिष्ट संस्करण	१)
चन्द्रहास	१॥)
भूमि-भाग	।)

अनघ	१।)
किसान	॥)
शकुन्तला	॥)
नहुष	॥=)
विश्व-वेदना	॥)
काबा और कर्बला	१।)
कुणाल-गीत	१॥)
अर्जन और विसर्जन	।=)
वैतालिक	।=)
गुरु तेगबहादुर	।=)
शक्ति	।=)
रङ्ग में भङ्ग	।=)
विकट-भट	।)
पृथिवीपुत्र	।॥)
युद्ध	।॥)

अनुवादित ग्रन्थ—

विरहिणी-व्रजाङ्गना	।=)
वीराङ्गना	२)
स्वप्न वासवदत्ता	१)
मेघनाद-वध	६)
रुबाइयात उमर खय्याम	१)

प्रबन्धक—

साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएँ—

आर्द्रा	(कविता)	१)
विषाद	,,	।=)
मौर्य्य-विजय	,,	।=)
अनाथ	,,	।=)
मृण्मयी	,,	२॥)
नोआखाली में	,,	॥)
पाथेय	,,	२)
दूर्वा-दल	,,	१)
आत्मोत्सर्ग	,,	॥=)
दैनिकी	,,	॥=)
बापू	,,	॥)
नकुल	,,	१॥)
जयहिन्द	,,	।)
गोद	(उपन्यास)	१।)
अन्तिम-आकांक्षा	,,	२)
नारी	,,	२॥)
मानुषी	(कहानी संग्रह)	१)
पुण्यपर्व	(नाटक)	१॥)
उन्मुक्त	(गीतिनाट्य)	१॥)
झूठ-सच	(निबन्ध)	२)
गीता-संवाद	(गीता का समश्लोकी अनुवाद)	१)
हमारी प्रार्थना		–)

The University Library,

ALLAHABAD.

Accession No. 141705 Hindi PH

Call No. 814-H
860

(Form No. 28 L 50,000—51)